# स्त्री-गढ़ंत की जटिलताएँ

## नारीवाद की तरफ़ से कुछ पूरक प्रस्ताव

कंचन शर्मा

विख्यात शिक्षाशास्त्री कृष्ण कुमार द्वारा रचित गहनों के समाजशास्त्र की व्याख्या करती यह पुस्तक जेंडर विभक्त समाज की उन अनेक बारीक गतिविधियों का अनावरण करती है जिन्हें मात्र पितृसत्तात्मक ढाँचे की रूपरेखात्मक समझ के ज़रिये नहीं पकड़ा जा सकता। दरअसल, कृष्ण कुमार की इस अत्यंत पठनीय और विचारोत्तेजक रचना का आरम्भ फ़ीरोज़ाबाद की एक ऐसी अकादमिक यात्रा से होता है जो लेखक ने पच्चीस युवा लड़कियों के साथ 'सुहाग नगरी' के चूड़ी कारख़ानों के अवलोकन हेतु आयोजित की थी। परंतु इस यात्रा के दौरान युवा लड़कियों की ज़िम्मेदारी के साथ देर रात की यात्रा का अनुभव व दिन में बस और बाज़ारों से गुज़रते हुए युवा लड़कियों की सुरक्षा के एक अव्यक्त भय ने लेखक को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि स्त्री होने के अर्थ को न केवल समझना ज़रूरी है, बल्कि अनुभव करना भी आवश्यक है। केवल पितृसत्ता की सामान्य तौर से प्रचलित अवधारणा पर निर्भरता से काम नहीं चलेगा, बल्कि बहुमुखी समझ और प्रत्यक्ष अनुभव के संयोग को घटित करना होगा। कृष्ण कुमार के मुताबिक़ यह ठीक वैसा ही है जैसे मात्र गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत से प्रकृति में घटित होने वाली प्रत्येक घटना को नहीं समझा जा सकता। मैं पूरी तरह से उनके इस प्रभावशाली विमर्श के साथ खड़ी हुई हूँ, लेकिन मुझे यह ज़रूर लगता है कि इस विमर्श को और सम्पूर्ण बनाने के लिए मुझे इसके कुछ छूटे हुए आयामों को रेखांकित करना होगा।

**कृष्ण कुमार की यह कृति स्त्री के समाजीकरण की प्रत्येक छोटी-बड़ी गतिविधि को विमर्श के दायरे में ले आती है। पाँच अध्यायों का यह पाठ हर अध्याय के ज़रिये विमर्श की दृष्टि से अलग-अलग पहलू को बाँधता हुआ दिखता है। मसलन, कैसे सड़क, स्कूल का ढाँचा, खुले मैदान व अन्य सार्वजनिक स्थल के अर्थ व प्रयोग लड़के व लड़कियों के लिए भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। दिन-रात, दोपहर, सोना-जागना इत्यादि दैहिक क्रियाओं के संदर्भ व स्वरूप भी किस प्रकार लिंग आधारित रूप ग्रहण कर लेते हैं।**

सिमोन द बोउवार के विचारों की पुन: जाँच करने के ज़रिये कृष्ण कुमार की यह कृति स्त्री के समाजीकरण की प्रत्येक छोटी-बड़ी गतिविधि को विमर्श के दायरे में ले आती है। पाँच अध्यायों की यह रचना अपने हर अध्याय के ज़रिये विमर्श की दृष्टि से अलग-अलग पहलू को बाँधती हुई दिखती है। मसलन, कैसे सड़क, स्कूल का ढाँचा, खुले मैदान व अन्य सार्वजनिक स्थल के अर्थ व प्रयोग लड़के व लड़कियों के लिए भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। दिन-रात, दोपहर, सोना-जागना इत्यादि दैहिक क्रियाओं के संदर्भ व स्वरूप भी किस प्रकार लिंग आधारित रूप ग्रहण कर लेते हैं। आम तौर पर नज़र से ओझल रह जाने वाली इन प्रक्रियाओं का पुस्तक में मार्मिक व तार्किक वर्णन किया गया है। कुछ फ़िल्मी गानों का सहारा लेते हुए वेश्याओं के जीवन के इर्द-गिर्द बनने वाले रिश्तों व पुरुष-नियंत्रण की बुनावट को समझने का भी प्रयास किया गया है— यद्यपि कृष्ण कुमार ने यह पुस्तक मुख्य रूप से समाज द्वारा स्वीकृत स्त्रियों की जीवन-संरचना को ही मद्देनज़र रख कर लिखी है।

इसके अतिरिक्त पुस्तक पुरुष होने के मनोविज्ञान पर भी एक गहरी निगाह डालती है। इसके तहत लुई फ्रांज़ के पूरकता-सिद्धांत को पुरुष द्वारा निर्मित छवि के बरअक्स छायारूपी स्त्री की कल्पना से समझाने का प्रयास किया गया है। इसके मुताबिक़ पुरुष स्वयं को जिस प्रकार देखता है वह उसका प्रकाशित रूप है। इसमें वह बलशाली, तर्कशील, निर्भय है। ठीक इस छवि के उलट छायारूपी स्त्री की छवि उसके अहं को लगातार तुष्ट करती है। पुस्तक का एक बड़ा भाग लड़कियों के समाजीकरण या उनकी निर्मिति की बारीकियों को केंद्र बना कर लिखा गया है। परंतु इस मंथन में एक कमी है। स्त्री की कामभावना या काम संबंधी अभिव्यक्ति या नियंत्रण की व्याख्या यह पुस्तक नहीं करती है, जबकि सिमोन का विमर्श इस विषय पर ख़ासा ध्यान देता है।

*चूड़ी बाज़ार में लड़की* का सबसे उल्लेखनीय प्रयास स्त्री-आभूषणों के समाजशास्त्र को समझना है। स्त्री होने या बनने-बनाने के चिह्न के रूप में आभूषण एक अहम आधार का काम करते हैं। इसकी समाजशास्त्रीय व्याख्या के लिए लगभग प्रत्येक आभूषण का स्त्री की खुद की दृष्टि से व दूसरों (देखने वालों) की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। इस लिहाज़ से आभूषणों की सूची में पायल, बिछुआ, चूड़ी, माला, झुमका, कमरबंद, नथनी, पैजनिया, मंगलसूत्र इत्यादि के साथ सिंदूर, बिंदी, लाली इत्यादि (जो आभूषण नहीं हैं, परंतु जिनकी आनुषंगिक उपयोगिता है) को भी शामिल किया गया है। सभी आभूषणों व चिह्नों को अलग-अलग श्रेणियों में विभाजित कर उनसे जुड़े मिथकों व व्यावहारिक उपयोगिताओं के साथ पितृसत्ता की चालबाज़ियों को समझने का प्रयास भी इस पुस्तक में मिलता है।

यह रचना नारीवाद के कई महत्त्वपूर्ण पहलुओं को अपने दायरे में शामिल करते हुए नारी होने के मायने को समझने का प्रयास करती है। लेकिन दूसरी तरफ़ यह स्त्री-विमर्श से जुड़े कुछ अन्य आयामों को छोड़ देती है जिन्हें शामिल करके कृष्ण कुमार अपनी चर्चा को और गहन बना सकते थे। एक छूट गये आयाम यौनिकता विमर्श का ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है। इसी के साथ छोड़ दिये विमर्शों में एक बात काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। मसलन, जब लेखक समाजीकरण की बारीकियों का ज़िक्र करते हैं (यहाँ उनके विचार काफ़ी हद तक लीला दुबे और सिमोन के विचारों से मिलते-जुलते हैं) वहाँ वे विसमाजीकरण की प्रक्रिया पर ध्यान नहीं देते। हम जानते हैं कि समाजीकरण के साथ-साथ स्त्री का जीवन विसमाजीकरण का भी आख्यान होता है जो समाजीकरण के साथ-साथ मज़बूत होता रहता है।

*चूड़ी बाज़ार में लड़की (2014)*
**कृष्ण कुमार**
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
मूल्य : 300 रु., पृष्ठ : 148

देखा जाए तो यह प्रक्रिया महिलाओं को पितृसत्ता के साँचे के अनुसार अलग-अलग रूपों में ढालने की तरफ़ ज़्यादा ले जाती है। ये हैं आदर्श बेटी, आदर्श पत्नी, आदर्श विधवा जैसे कई रूप। समाजीकरण से सीखे व्यवहार का एक काल बाद स्वत: बदल देना ऐसा मसला है जो विमर्श की दृष्टि से शामिल किया जाना आवश्यक है। मसलन, विवाहोपरांत स्त्री को भिन्न जीवन-शैली वाले घर के अनुसार स्वयं को ढालना पड़ता है, और इस तरह विवाह-पूर्व समाजीकरण की उल्टी प्रक्रिया शुरू होती है। दोनों ही पितृसत्तात्मक हैं, पर दोनों में तीव्रता और स्थायित्व के लिहाज़ से अंतर है। शादी से पूर्व लड़कियों को किसी भी शृंगार की ओर आकर्षित न होने की हिदायत दी जाती है, परंतु शादी के बाद उसी लड़की से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सुहागन होने के सभी प्रतीकों-चिह्नों को अपने शृंगार में शामिल करे। साथ ही उसकी भाषा में भी स्वत: बदलाव आता है। पहले वह चूड़ी टूटने को चूड़ी टूटना ही कहती थी, पर अब चूड़ी मोलना, मंगलसूत्र मोलना आदि कहती है। यहाँ 'टूटने' की जगह 'मोलना' इसलिए इस्तेमाल किया जाता है ताकि टूटने के साथ जुड़े 'अशुभ' के विचार से बचा जा सके। इसी तरह उसके विधवा होने पर उसे एक अलग व्यवहार अपनाना होता है। दरअसल, स्त्री की निर्मिति की प्रक्रिया का मंथन करते हुए इन दोनों प्रक्रियाओं को लगातार समझना होगा। पुरुषों के जीवन में समाजीकरण के बाद विसमाजीकरण की यह प्रक्रिया कभी घटित नहीं होती। इस तरह स्त्री की अस्मिताएँ बहुविध होती चली जाती हैं। ज़ाहिर है कि नारीवाद इन बदलती अस्मिताओं से मुँह नहीं चुरा सकता। उसे अलग-अलग अस्मिताओं के लिहाज़ से अलग-अलग पैमाने तैयार करने होंगे।

कृष्ण कुमार ने स्त्रियों के जीवन में चूड़ी की भूमिका का सविस्तार चित्रण किया है। लेकिन यहाँ स्त्री और चूड़ी के संबंधों में होने वाले परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दिया गया है। उनकी कल्पनाशीलता में एक ख़ास ढर्रे की चूड़ी की दूकान, चूड़ी और चूड़ी पहनने वाले के संबंध, समाज और चूड़ी के संबंध एवं एक ख़ास रूप में स्त्री की कल्पना दर्ज है। हक़ीक़त यह है कि समय के साथ स्त्री और चूड़ी का संबंध व चूड़ी बाज़ारों व दुकानों के रूप में बदलाव आया है। आज चूड़ी की भूमिका वैवाहिक आभूषण के साथ एक फ़ैशन चिह्न का रूप ले चुकी है। एक बड़ा शहरी मध्यम वर्ग चूड़ी की गिरफ़्त से आज़ाद होता जा रहा है, और चूड़ी की भूमिका स्त्री के जीवन में मात्र कुछ अवसरों

तक सिमटती जा रही है। नयी परिस्थिति में स्त्री के लिए उसके गहने धार्मिक और सांस्कृतिक अनिवार्यता से अधिक फ़ैशन-वक्तव्य बन गये हैं।

आभूषणों को नारी की दोयम स्थिति या दुर्बलता का दोषी बताने वाली यह कृति नहीं देख पाती कि भारत जैसे देश में ऐसे अनेक समुदाय हैं जहाँ पुरुष भी कड़ा, कुंडल, अंगूठी, ज़ंजीर इत्यादि को अपने जीवन का हिस्सा बनाते है। मसलन, गड़रिया समुदाय और सिख समुदाय जैसे सामाजिक समूह तो ऐसा करते ही हैं, फ़ैशन की दृष्टि से अनेक शहरी पुरुष भी कई तरह के गहनों का इस्तेमाल करते हैं। जैसे ब्रेसलेट, कड़े, बैंड इत्यादि। लेखक के इस तर्क पर भी तनिक थम कर विचार करना होगा कि चूड़ी कलाई को कमज़ोर करती है या वह कमजोरी की द्योतक है। सोचना यह होगा कि कहीं यह हमारे भाषाई पूर्वग्रहों का असर तो नहीं, जिसने इस अन्यथा बेहतरीन पुस्तक की तर्कपद्धति पर असर डाला है। अक्सर यह फ़िकरा इस्तेमाल किया जाता है कि चूड़ियाँ पहन लो, जो कमज़ोर होने का द्योतक है, परंतु इस सामान्य समझ को चुनौती दिये जाने की भी आवश्यकता है। आज भी अनेक पुरुष कान छिदाते हैं, और आभूषण धारण करते हैं। इन्हें नज़रअंदाज़ करके केवल गहनों के दम पर स्त्री-विमर्श खड़ा करके पितृसत्ता की समालोचना करना एक तरह की अपर्याप्तता की तरफ़ इशारा करता है।

अपने पाठक को यह पुस्तक एक और एहसास देती है कि गहनों से जुड़ा पूरा विमर्श जिस स्त्री को आधार बना कर लिखा गया है शायद वह उत्तर भारतीय हिंदू मध्यवर्ग की सदस्य है। यहाँ वस्तुस्थिति के दो पहलू हैं। पहला, हिंदुओं में ही नहीं, मुसलमान समाज में भी स्त्री और चूड़ी के बीच तक़रीबन समान रिश्ता है और रिश्ते का मुस्लिम विवाह परम्पराओं की दृष्टि से अकादमीय संधान भी किया जा चुका है। दूसरा, भारत में अनेक समुदाय ऐसे भी हैं जहाँ स्त्री के जीवन में आभूषणों को इतनी प्रमुखता नहीं दी जाती। क्या ऐसे समाजों में स्त्रियाँ जेण्डरीकरण की उस प्रक्रिया से बच निकलती हैं जो चूड़ी या गहनों की वजह से हिंदू या मुसलमान स्त्री पर हावी हो जाती है? क्या वहाँ पितृसत्ता अपना खेल नहीं खेल पाती? ऐसे समाजों में स्त्री-जीवन से जुड़े वे कौन से पहलू है जो स्त्री को स्त्री होने का अहसास कराते हैं? इस प्रश्न को शामिल कर शायद विद्वान लेखक गहनों व स्त्री के संबंध की समाजशास्त्रीय पड़ताल को एक नया रुख़ प्रदान कर सकते थे।

पुस्तक स्त्री-समाजीकरण से जुड़े जिन पहलुओं की चर्चा करती है, वे उत्तर भारत की एक सामान्य संस्कृति के द्योतक हैं, पूरे भारत में समरूप नहीं है। लीला दुबे की समझ में सम्पूर्ण भारत में नारी-समाजीकरण की प्रक्रिया विविध है। दुबे इस पर विस्तार से चर्चा करती हैं, जिसे शामिल कर कुछ भिन्न पहलुओं पर रोशनी डाली जा सकती थी। मसलन, माहवारी एक ऐसी घटना है जो एक महत्त्वपूर्ण और निर्णायक मोड़ की तरह स्त्री के जीवन को परिवर्तित कर देती है। माहवारी के आरम्भ को उत्तर और दक्षिण में अलग-अलग तरीक़ों से आयोजित किया जाता है, परंतु इन दोनों ही तरीक़ों में लड़की को लड़की होने का एहसास करवा दिया जाता है। परंतु यह पुस्तक स्त्री-जीवन की इन बारीकियों में जाने से बचती है और उसके प्रति एक सपाट रवैया अपनाती हुई प्रतीत होती है।

स्त्री का समाजीकरण और उसके सशक्तीकरण के आपसी संबंधों का प्रश्न भी विद्वान लेखक की निगाह से चूक जाता है। समाजीकरण के इस स्थापित ढाँचे के भीतर सशक्तीकरण की बेहतर सम्भावनाओं का संधान भारतीय नारीवाद की प्रमुख आवश्यकता है। सशक्तीकरण के स्थापित रूपों पर सवाल किये बिना नारीवाद के नये रूपों को टटोलना तक़रीबन नामुमकिन हो जाएगा। पुरुष और स्त्री की भिन्नता और पूरकता का प्रश्न भी इसी से जुड़ा है। नारीवाद के शुरुआती दौर में स्त्री जीवन के जिन पहलुओं को उसकी कमज़ोरी बताया गया था और जिनसे मुक्ति पाने के प्रस्ताव किये गये थे, भिन्नता के विमर्श ने उससे परे हटते हुए पाया कि ये पहलू उसकी कमज़ोरी न हो कर उसकी ताक़त है।

डिफ़रेंस फ़ेमिनिज़म कहता है कि ये पहलू स्त्रियों को शारीरिक शक्ति, सत्ता और दबंगपन के पुरुषोचित पहलुओं को भीतर से गहरी चुनौती देने की क्षमता रखते हैं। यह भिन्नता का विमर्श ही है जिसने स्त्री को पुरुष की भाँति शक्तिशाली होने के आग्रह से बचाया, और उसे अपनी स्त्रियोचित ख़ूबियों पर गर्व करने, उन्हें सँभाल कर रखने और उन्हें नारीवाद की नयी राजनीति का प्रभावशाली उपकरण बनाने की प्रेरणा दी। अगर भिन्नता का विमर्श नहीं होगा तो स्त्री की सामाजिक और राजनीतिक भूमिकाओं और पुरुषों की उन्हीं भूमिकाओं के बीच कोई अंतर ही नहीं रह जाएगा। इसकी अनुपस्थिति में अगर मौक़ा मिलेगा तो स्त्री भी वही करती नज़र आएगी जो पुरुष करते हैं।

मातृ–सिद्धांत जिन विचारों को प्रतिपादित करता है उनसे स्थापित अवधारणाओं को चुनौती मिलती है। मसलन, कैरोल गिलिगन द्वारा प्रतिपादित जेण्डर व नैतिकता के मनोवैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित सिद्धांत लॉरेंस कोलबर्ग के इस दावे के ख़िलाफ़ तर्क प्रस्तुत करता है कि स्त्रियाँ नैतिक रूप से कम विकसित होती हैं। गिलिगन नैतिक विकास सिद्धांत की नये सिरे से व्याख्या करते हुए दावा करती हैं कि स्त्रियों के पास अलग व बेहतर नैतिक आवाज़ होती है। जीन बेकर मिलर भी यह मानती हैं कि सत्ता व शक्ति को लेकर महिलाओं की समझ और पुरुषों की समझ में अंतर है। मिलर सत्ता को वर्चस्व के रूप में न समझ कर बदलाव पैदा करने की क्षमता के तौर पर देखती हैं। इसी प्रकार वर्जीनिया हेल्ड मानती हैं कि महिलाओं के अनुभव एक माँ के रूप में और लालन–पालन करने वाले के रूप में अलग होते हैं जिनसे सत्ता व शक्ति की एक अलग समझ पैदा करने में सहायता मिल सकती है। इसी प्रकार क्रिस्टीना होफ़ 'पॉवर फ़ेमिनिज़म' के तहत सत्ता व सशक्तीकरण के स्थापित ढाँचे / समझ को चुनौती देती हैं। वे स्त्रियों को महज़ पीड़िता के तौर पर देखे जाने का विरोध करती हैं। यहाँ नारीवादी व्यक्तिपरकता और स्वग्राही होने का समर्थन अधिक है और उन संदर्भों पर बल दिया गया है जिनमें कोई व्यक्ति अपना चयन / पसंद स्वयं निर्मित करता है।

**यह भिन्नता का विमर्श ही है जिसने स्त्री को पुरुष की भाँति शक्तिशाली होने के आग्रह से बचाया, और उसे अपनी स्त्रियोचित ख़ूबियों पर गर्व करने, उन्हें सँभाल कर रखने और उन्हें नारीवाद की नयी राजनीति का प्रभावशाली उपकरण बनाने की प्रेरणा दी। अगर भिन्नता का विमर्श नहीं होगा तो स्त्री की सामाजिक और राजनीतिक भूमिकाओं और पुरुषों की उन्हीं भूमिकाओं के बीच कोई अंतर ही नहीं रह जाएगा। इसकी अनुपस्थिति में अगर मौक़ा मिलेगा तो स्त्री भी वही करती नज़र आएगी जो पुरुष करते हैं।**

*चूड़ी बाज़ार में लड़की* के विमर्श से एक संदेश यह भी निकलता है कि वह सशक्तीकरण की एक प्रचलित समझ के प्रभाव में है, जबकि डिफ़रेंस फ़ेमिनिज़म के बाद से एक भिन्न मान्यता प्रभावशाली बनी है। और, वह यह है कि स्त्री को अपनी विभेदक विशेषताओं, मसलन उनकी लालन–पालन की क्षमता, नाज़ुकपन, संवेदनशीलता इत्यादि के इर्द–गिर्द स्वयं ही सशक्तीकरण का ढाँचा निर्मित करना चाहिए। यह ढाँचा न केवल पुरुषों के बीच स्वीकृत सत्ता और शक्ति की संरचनाओं से भिन्न होगा, बल्कि कई मायनों में बेहतर समाज का निर्माण भी करेगा।

पुस्तक में स्त्री–शिक्षा पर शामिल चिंतन हालाँकि शिक्षा जगत की उन चालबाज़ियों की पोल खोलता है जो ऊपरी तौर पर साफ़ नहीं दिखाई पड़तीं, लेकिन बेहद तार्किक तरीके से किये गये अध्ययन के बावजूद यह समझना भी आवश्यक है कि जाति, लिंग, वर्ग, धर्म जैसी आधारभूत वंचनाओं के समाज में जब वंचित वर्ग शिक्षा में आना आरम्भ करते हैं तो व्यवसाय के सभी क्षेत्रों पर अपनी उपस्थिति एक साथ दर्ज नहीं करा सकते। एक स्थान पर लेखक का कहना है : 'पिछले सवा सौ वर्षों में, और विशेषकर आज़ादी के बाद से डॉक्टरी, इंजीनियरी और वकालत के पेशों में महिलाएँ गयी हैं

और सफल भी हुई हैं, इस बात से देश को यश मिला है जिसका नशा बहुत व्यापक है। उसके प्रभाववश लोग मानने लगे हैं कि शिक्षा में लड़कियों की बराबरी का लक्ष्य लगभग पा लिया गया है ...।' यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कमज़ोर वर्गों के सशक्तीकरण की धीमी गति के प्रति हमारी चेतावनी का रूप निराशाजनक नहीं होना चाहिए। शिक्षा व आधुनिक कहे जाने वाले क्षेत्रों में महिलाओं ने अहम भूमिका निभाई है— इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि एक साथ सभी बाधाओं को समाप्त नहीं किया जा सकता। समाज में परिवर्तन समय के साथ आता है। समाज परिवर्तन की गति धीमी है, और गति को धीमा रखा जाना समाज की चतुराई हो सकती है जिस पर चर्चा आवश्यक है और यह प्रयास लेखक करते भी हैं, परंतु सामाजिक परिवर्तन का लाभ वंचित वर्ग को प्राप्त हो रहा है इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता।

एक स्थान पर लेखक कहते है : 'यदि औरतें इंजीनियरी की शिक्षा पाकर बड़ी इमारतें और पुल बनाने और खदानों या ताक़तवर मशीनों, कारों या हवाई जहाज़ों की औद्योगिक रचना और देखरेख से जुड़े कामों में दिखाई देने लगें तो ऐसी औरतें हमारी संस्कृति के परिदृश्य में खटकेंगी और ऐसा ख़लल पैदा करेंगी जिसकी परिणतियाँ समाज की उस संरचना को कमज़ोर बनाएँगी जो आज हमें संस्कृति का पर्याय प्रतीत होती हैं ...।' मोटे तौर पर कृष्ण कुमार का यह आग्रह ठीक है, लेकिन बारीक समीक्षा करने पर यह मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय प्रवृत्ति का चित्रण ज़्यादा लगता है। निम्न वर्ग में यह आग्रह काम नहीं करता। हम सभी ने बड़े-बड़े निर्माण स्थलों के आस-पास बड़ी संख्या में महिलाओं को पत्थर तोड़ते, सड़क बनाते, बच्चा कमर पर बाँधे ईंट उठाते देखा है। यहाँ इंजीनियर स्त्री और मज़दूर स्त्री के मध्य के भेद रेखांकित करना आवश्यक है। समाज को मज़दूर स्त्री से कोई दिक़्क़त नहीं है जो सड़क किनारे वह सभी कार्य करती है जो उसके पुरुष साथी मज़दूर करते हैं। इसमें परम्परानिष्ठ समाज को कुछ अटपटा नहीं लगता। ऐसा क्यों है ? लेखक के पास इस विभेदीकरण की क्या समझ है ?

व्यवसाय-क्षेत्र के अध्ययन में यह ध्यान करना भी शामिल है कि सुरक्षा-क्षेत्रों में भी महिलाओं को शामिल किया जाए या नहीं ? मोर्चे पर स्त्रियों को भेजा जाए या नहीं ? अगर भेजा जाए तो उनकी भूमिका आनुषंगिक हो या वे कॉम्बेट ड्यूटी में जाएँ ? यह पूरी दुनिया के लिए एक बहस का मुद्दा है। अगर एक बार यह तय हो जाए तो फिर भारत में आंतरिक मोर्चों पर उग्रवादियों या आतंकवादियों से लड़ने के लिए स्त्रियों को भेजा जा सकता है।

नारी-विमर्श व नारी की गढ़ंत के संबंध में यह पुस्तक मोटे तौर पर दो अव्यक्त ढाँचों की चर्चा करती है। एक ढाँचे में पुरुष का निर्माण हो रहा है और दूसरे ढाँचा स्त्री की निर्मिति करता है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो इस रचना में दो भिन्न बर्तनों में निर्मित होने वाले व्यक्तित्वों के मध्य बनने वाले संबंधों का बारीक विश्लेषण किया गया है। लेकिन इस विश्लेषण के साथ यह समझना भी आवश्यक है कि व्यावहारिकता में इन दो पृथक् ढाँचों के मध्य कुछ ऐसा घटित होता है जो विमर्श की दृष्टि से समझा जाना भी आवश्यक है। स्त्री-पुरुष संबंधों की भिन्नता व बारीकियों पर चर्चा करते हुए यह संदर्भ निरंतर उपस्थित रहना चाहिए कि औरत होना एक मात्र पहचान नहीं है, बल्कि वह प्रत्येक स्त्री की ख़ुद से जुड़ी अपनी कहानी है। हो सकता है कि यह कहानी बनी-बनाई पटरी से मेल न खाती हो या वह अपनी उन विशेषताओं में कुछ अन्य को भी शामिल करती हो। नारी-विमर्श को आगे बढ़ाने हेतु यह सुनिश्चित करना होगा कि हमारी आलोचनाओं और समीक्षाओं में ऐसी गुंजाइशें शामिल हों और ऐसे नवाचारों की सम्भावनाएँ अंतर्निहित हों जो बँधे-बँधाए विमर्श के इतर घटित होने वाले परिवर्तनों की थाह लेने की क्षमताएँ भी सुनिश्चित कर सकें।